सेक्शुअलिटी और नारीवाद

कामना के चरित्र का भारतीय पक्ष

अनामिका

अभय कुमार दुबे की कृति *फ़ुटपाथ पर कामसूत्र : सेक्शुअलिटी और नारीवाद की कुछ भारतीय निर्मितियाँ* के साथ एक समीक्षात्मक मुठभेड़ शुरू करने से पहले मैं इस मौक़े का सदुपयोग 'ओरिएंट' कही जाने वाली और औपनिवेशिक दोहन का शिकार हो चुकी संस्कृतियों में पुराने ज़माने से ही पनपते रहे यौनिकता विमर्श पर कुछ चर्चा करना पसंद करूँगी। मुझे यक़ीन है कि यह चर्चा प्रकारांतर से और कहीं-कहीं सीधे-सीधे समीक्षित पुस्तक की विषयवस्तु के साथ जुड़ जाएगी।

■■■

एक साक्षात्कार (2000) में ज़ाक देरिदा से पूछा गया कि हाइडेगर, कांट, हीगेल या किसी पूर्ववर्ती दार्शनिक पर कोई वृत्त-चित्र बने तो उसमें वे क्या देखना पसंद करेंगे? थोड़ा सोचकर उन्होंने कहा, 'उनका यौन-जीवन, क्योंकि यह एक प्रसंग है जिस पर उन्होंने कभी कोई बात ही नहीं की!' पते की बात है। जूडियो-क्रिश्चियन परम्परा की बौद्धिकता यौन-जीवन की खुली चर्चा को हरदम
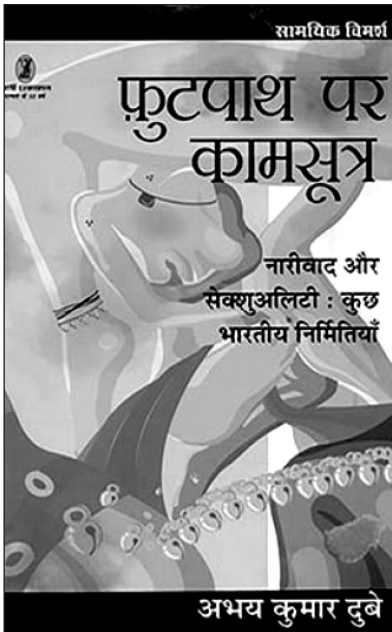
फ़ुटपाथ पर कामसूत्र : नारीवाद और सेक्शुअलिटी–कुछ भारतीय निर्मितियाँ
अभय कुमार दुबे
वाणी प्रकाशन–सीएसडीएस, नयी दिल्ली
मूल्य : 695 रु., पृष्ठ 395

शर्मनाक मानती रही है, जबकि पूरब–पश्चिम और दोनों के क़िस्सागो, कवि, लोकवार्त्ताकार लगातार यौन–प्रसंगों की महीन और मोटी क़सीदाकारी करते रहे हैं।

मुहम्मद ने भी अपने अनुयायियों से संवाद–क्रम में दो लिबलिबियों के सावधान इस्तेमाल की बात कही है : जीभ और यौनांग। उन्होंने शरीर के शहद का बेजा इस्तेमाल न करने की सलाह भी दी है। स्त्रियों के प्रति शिष्ट बरताव की हिदायत भी उनकी ही है। इस्लाम–पूर्व अरब में प्रिय को निवेदित जो 'क़सीदे' पढ़े जाते थे या पुराने प्रेम की याद में पचास से सौ पंक्तियों में 'नसीब' गाये जाते थे, उनमें तरह–तरह के यौन–प्रसंगों का चित्रण पाया जाता है— कुछ इस तर्ज़ में कि इनसे सुनने वालों को कुछ सीख मिले। इमरू–अल केज़ का एक प्रसिद्ध नसीब है जहाँ इसका उपाय बताया गया है कि नवप्रसूता से प्रणय–निवेदित करने में किन बातों का ध्यान रखें— ख़ासकर तब जब बगल में उसका दुधमुँहा लेटा हो।

इस परम्परा का एक प्रतिपक्ष भी था जिसे 'हिजा' कहते थे! उसमें दुश्मनों की पत्नियों, बहनों, माँओं को विकट से विकट गालियाँ दी जाती थीं। गा–गाकर उनकी ऐसी–तैसी करने की यह परम्परा भारतीय लोक में स्त्रियों ने 'लोक' ली, पर स्त्रियाँ पुरुषों को निवेदित जो 'गारी' डोमकच या अन्य अवसरों पर गाती हैं, उनमें हास्य का पुट ज़्यादा होता है— वैसी हिंसा तो बिल्कुल नहीं होती जैसी पुरुषप्रदत्त 'हिंसा' में होती है।

'ग़ज़ल' तक आते–आते यौनिकता चिलमन से लग कर बैठने का सलीक़ा पा गयी और शहराती महफ़िलों में, राजदरबारों में पुरसुरूर छेड़–छाड़, महीन गिले–शिकवों और वियोग की रूहानी तकलीफ़ों का ज़िक्र यहाँ दबी–ढँकी यौनिकता की छाती में आ बैठा। शहरी नफ़ासत से भरपूर, शाहाना इकरार–इसरार में डूबी इस सूफ़ियाना यौनिकता का उत्कर्ष रूमी, उमर ख़य्याम और ख़ुसरो आदि की कविता में मिलता है।

फिर इसका भी एक प्रतिपक्ष उभरता है— 'मुजून' और 'अदब' जैसी विधाओं में जहाँ गुलाम स्त्रियों, जानवरों और गुलाम पुरुषों के साथ हुई कारगुज़ारियों के विवरण मज़ाकिया ढंग से दिये जाते हैं। इस प्रसंग में अल–जहीज नामक लेखक के अंग्रेज़ी अनुवादों की बड़ी धूम है— 'सिंगिंग स्लेव गर्ल्स', 'बुक ऑफ़ ऐनिमल्स' आदि अंग्रेज़ पर्यटकों के बीच आज भी लोकप्रिय हैं— 'ओरिएंट' की यौनाचार संबंधी विचित्र धारणाओं का सूत्रपात अगर यहीं से हुआ हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

जहाँ तक अपने *कामसूत्र* की परम्परा में आने वाली आचार–संहिताओं का सवाल है, मध्य एशिया में *क़ुतुब–अल–बाह* दसवीं शताब्दी के बाद से लगातार पढ़ा जाता रहा है। फ़ारसी की *बुनयांदख़्त* तो स्त्री को यौनाचार–संबंधी सलाहें देती हैं और यौन दासियों द्वारा लिखी हुई जान पड़ती है— ऐसी वृद्धा यौनदासियों द्वारा जिन्हें आगे इस दलदल में पड़ने वाली नयी लड़कियों के मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य की चिंता है और जो अपने तरह–तरह के अनुभवों की ढीली बँधी गठरी आगे आने वालियों को थमा देना चाहती हैं।

बग़दाद के एक पुस्तक विक्रेता की जारी की हुई प्रसिद्ध यौन-संहिताओं की सूची में भारत के *कामसूत्र* का ज़िक्र बार-बार आता है और उसी तर्ज़ पर अरब में तैयार सेक्स-मैनुअलों का भी। इन मैनुअलों में यौन-तंत्रिकाओं की सफ़ाई, उनके सूक्ष्मतम उपयोग, रोगादि और उपचार का एक अलग खण्ड है। उपपत्नियों के वैधानिक अधिकारों की चर्चा भी रह-रह कर वहाँ होती है। समलैंगिकों और उभयलिंगियों का ज़िक्र भी कई जगह मिलता है और यौनातिरेक के ख़िलाफ़ जारी फ़तवों का भी। जैसे हमारे यहाँ *क़िस्साए तोता-मैना* प्रचलित हुआ, यौनाचार संबंधी तुर्की-बतुर्की जवाबों का एक अफ़साना मध्य एशिया में भी है जिसका अनुवाद *द डंकी रेंटर्स स्पीच टु द ग्रोसर्ज डॉक्टर* के नाम से मिलता है। एक और रोचक अनुवाद इब्न फ़लीता (1363) नामक व्यक्ति के सेक्स मैनुअल का *द इंटेलिजेंट मैन्स गाइड टु कीपिंग कम्पनी विद द बिलविड* नाम से पश्चिम में काफ़ी लोकप्रिय हो चुका है।

लुब्बेलुबाब यह कि कम से कम भारत और मध्य एशिया के जातीय अवचेतन में यौनाचार शास्त्रीय और लौकिक चर्चा का विषय हमेशा रहा है। भारत में तंत्र, योगादि भी तरह-तरह के यौनिक बिम्बों में उन्नयन का चित्र खींचते हैं। मूलाधार में सोयी जीवनी शक्ति का सहस्त्रार में जागे असीम से अभिसारिका भाव में मिलने चल देना— सभी चक्रों के बंधन काटते हुए और वैसे ही हहाते हुए मिलने चल देना जैसे नदी सागर से मिलने जाती है, या यौनदग्ध नागिन नाग से। इस तरह के कई बिम्ब यौनाचार को आध्यात्मिक वैभव देते रहे हैं, इसलिए भी *कामसूत्र* की रचना सम्भव हुई होगी।

भारत में चार पुरुषार्थ माने गये— धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष! इसमें 'धर्म' और 'मोक्ष' की ओर प्रयाण तब तक सम्भव नहीं माना गया है जब तक 'अर्थ' और 'काम' की शांति न हो जाए। योग और तंत्रादि उन्नयन का भी उपाय सुझाते हैं, पर यात्रा मूलाधार या पृथ्वी तत्त्व से ही शुरू होती है! मेरुदण्ड नाम की जिस आध्यात्मिक सीढ़ी की बात होती है, वहाँ अलग-अलग ऊर्जा केंद्रों पर (अलग-अलग वृत्तियों, रंगों, ध्वन्यालोकों, तत्त्वों के संवाहक) तरह-तरह के बीजाक्षर स्पंदित दिखाए गये हैं। ध्यानादि या हठयोग से पृथ्वी तत्त्व से आकाश-तत्त्व की ओर यानी मूलाधार से सहस्त्रार की ओर की मनस्यात्रा सम्भव मानी गयी है! हमारे मतलब की बात यहाँ यह है कि मुक्ति का आधार भी देह ही है— 'देह धरे को दण्ड है' तो मुक्ति का उपाय भी देह धरे को ही है। *शिवसूक्त* में प्रसंग है कि पार्वती, सप्तर्षि और गण अलग-अलग आदि योगी से पूछते हैं कि वे मुक्त कैसे हों— विकारों से या मायाजन्य बेचैनी से। शिव उनको उत्तर भी अलग-अलग ही देते हैं— जो वह गणों से कहते हैं, फ़िलहाल उसका ही संकेत मेरा अभिप्राय है। वे उनको करुणा से देखते हुए जो भी कहते हैं उसका सारांश कुछ यों बनेगा : तुम

तात्त्विकतावाद का आरोप तो स्त्रीवाद पर तब लगता जब वह पुरुष-जाति से यह उम्मीद ही छोड़ देता कि उसके लिए 'नेक', मधुर, कल्याणकारी, पोषक और पृथ्वी जैसे धारक तत्त्वों से परिपूर्ण होना सम्भव ही नहीं है। वाई फैक्टर जो आक्रामकता पैदा करता है, वह भी सही पालन-पोषण से ठीक हो सकता है। आदर्श स्थिति तो यह है कि हमें सम्यक् और स्थितप्रज्ञ पुरुष चाहिए, और संवेदित स्त्रियाँ— न अतिपुरुष, न अतिस्त्री, न मैचोमैन, न बार्बी डॉल।

तो देहातीत हो, तुम क्या उपाय करोगे, तुम बस मुझे पी लो बूँद-बूँद ... अपनी तकलीफ़ें लेकर मेरे पास आओगे और मैं कुछ नहीं करूँगा, बस सो जाऊँगा। मेरी वह निश्चेष्टता ही तुम्हारी गोद है तुम्हारी, और मेरी करुणा जल है तुम्हारा। तुम उसको ही बूँद-बूँद पी लेना! पुरुषार्थ या प्रयास देहधारी के लिए हैं।

पश्चिम में यह यात्रा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से हो कर देह-विमर्श तक जब पहुँची— महाप्रमेय ढहने की कगार पर आ चुके थे। एक पंक्ति में कहें तो सातवें दशक के पहले तक शरीर वह था जो कुछ कर सकता था, इसके बाद शरीर वह है जिसके साथ कुछ किया जा सकता है या जिस पर कुछ बीत सकती है, मसलन कि उसे घूरा जा सकता है, उसकी तस्वीरें उतर सकती हैं, जो छापा जा सकता है और जिसकी यौन-वृत्तियों का शासन-नियोजन-प्रबंधन भी हो सकता है। इस तरह शरीर उद्देश्य-स्थान से विधेय-स्थान पर आ गया है।

■■■

समीक्षित कृति *फ़ुटपाथ पर क़ामसूत्र* यौनिकता की कला, उसके विज्ञान और उसके वाणिज्य से आगे जाकर उसके समाजशास्त्र के कुछ अनछुए पहलू खोलती है और इस क्रम में नयी नैतिकता, नये सौंदर्यबोध और स्त्री-साहित्य में उसकी नतनयन उपस्थिति के सजग संकेत भी देती है। इस विमर्श की लय का आभास इस रचना के अध्यायों के शीर्षक से ही हो जाता है : प्रेम का द्विपक्षीय लोकतंत्र / नारीवाद, मनोविश्लेषण और सेक्शुअलिटी विमर्श, पटरी से उतरी हुई औरतों का यूटोपिया / राष्ट्रवाद का प्रति-आख्यान, फ़ुटपाथ पर कामसूत्र / महानगर में कामनाओं का भूगोल, परिवार से हारती पार्टी / मार्क्सवाद और नारी-मुक्ति, पितृसत्ता के नये रूप / भूमण्डलीकरण, बाज़ार और स्त्री-श्रम, नारीवाद की हिंदी राजनीति / प्रभा खेतान के बहाने, टिक-टिक करती सेक्शुअल घड़ी / सेक्स और दोस्ती की सोशल इंजीनियरिंग, अंतरंगताओं की फ़ितनागरी / *गुड़िया भीतर गुड़िया* के बहाने, सेक्सुअलिटी बनाम ब्रह्मचर्य /*रेत* के बहाने, नारीवाद की हिंदी-कथा / सशक्तीकरण और मुक्ति के बीच हमारे युग की नायिकाएँ।

पहला, तीसरा, पाँचवाँ और सातवाँ अध्याय मिलकर पुस्तक का नाभिकीय केंद्र बनता! सुधीर कक्कड़ के उपन्यास *क़ामयोगी* के एक प्रसंग के बहाने अभय 'कामना के चरित्र' का उत्तर-आधुनिक पक्ष टटोलते हुए महानगरीय अभयारण्य में विचरते हैं— देर रात की प्राइवेट पार्टियाँ आयोजित करने वाली आधुनिक गुफ़ाओं और दूसरी खुफ़िया जगहों के अलावा फ़ुटपाथों पर, पबों में, पार्कों में, इंटरनेट की हज़ार पंचवटियों में ऐसा करते हुए वे 'अनामदास का पोथा' के रैक्व का सबल प्रतिपक्ष रचने वाली 'ओवर एक्सपोज़्ड' या अतिक्रांति युवा पीढ़ी के यौनाचरण की सामाजिकी रचने का उत्कट धैर्य दिखाते हैं। मुक्तिबोध ने जिस अर्थ में लेखकों को 'आत्मा का जासूस' कहा था, प्राय: उसी अर्थ में अभय कुमार दुबे यहाँ अकादमिक संधान की लम्बी टॉर्च हाथ में लिए सब अँधेरे कोने काटते हुए जिन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं, उनमें से कुछ की चर्चा यहाँ की जानी चाहिए :

- प्रेम को पूरी तरह सेक्सविहीन करने की विक्टोरियाई नैतिकता का, 'नतीजा यह निकला कि सेक्स ऐक्ट एक तरह की यांत्रिकता का शिकार हो गया' जिसके गर्भ से पोर्नोग्राफ़ी जन्मी।
- सामाजिक दृष्टि से देखने पर प्रेम अपनी आत्मनिष्ठता के बावजूद वस्तुनिष्ठ संरचनाओं से अप्रभावित नहीं होता। समाज में प्रेम संबंधी निर्णय उत्पादन-संबंधों, सत्ता-संबंधों, जातिगत और वर्गगत संरचनाओं और बाज़ार के विकास के स्तरों और लैंगिक संबंधों की स्थिति के आधार पर लिए जाते हैं।

यहाँ अभय ने प्रेम को छह श्रेणियों में बाँटा है— (1) पहली नज़र का तर्केतर प्रेम जो मियादी

बुख़ार की तरह जितनी जल्दी परवान चढ़ता है, उतनी ही जल्दी उतर भी जाता है, (2) उन्मादी प्रेम जो अक्सर एकतरफ़ा और विनाशमूलक होता है, (3) स्नेहपूर्ण मैत्री जहाँ आवेग उतर जाने पर भी सदाशयता बनी रहती है (स्टोर्न), (4) परोपकारप्रधान प्रेम (गैप), (5) लक्ष्यमूलक प्रेम, और (6) फंदेबाज़ी। इस सूत्रीकरण के बाद यह बात भी रेखांकित की गयी है कि एक तो भावनाएँ वक़्त के साथ बदलती हैं और दूसरी यह कि एक व्यक्ति किन्हीं दो व्यक्तियों से अलग-अलग क़िस्म का प्रेम भी कर सकता है : एक साथ या एक के बाद एक के क्रम में।

इसके बाद युंग से लेकर गिडेंस तक के यौनिकता-संबंधी आकलनों का सम्यक् विश्लेषण करते हुए लेखक ने तीसरे अध्याय में एक अत्यंत रोचक सर्वेक्षण के सहारे महानगर में कामनाओं का भूगोल टटोला है— डॉ. मोजो, लवगुरु, शफ़ाखाने, पेशाबघरों के ग्राफ़िक्स, यौनिकता का 'हरी घास पर क्षण-भर' वाला पक्ष, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया पर उभरने वाली यौन-देवियाँ, कामुक दोस्ती का, 'रात गयी, बात गयी' वाला पक्ष, पोर्नोग्राफ़ी और 'मैडम स्मिथ के विज़िबिल हैण्ड' की लम्बी पहुँच, इंटरनेट, चकलाघर, कार की मोबाइल प्राइवेसी, सेलफ़ोन पर नियोजित ख़ुफ़िया मुलाक़ातें, समलैंगिकों और हिजड़ों के यौनिक ऐडवेंचर और पुलिस दोहन के हज़ार प्रसंग पर्याप्त सँभली और सुलझी हुई, तटस्थ भाषा में सामने रखे गये हैं और इनसे जो नतीजे निकाले गये हैं, उनमें भी कहीं कोई वैल्यू-जजमेण्ट सर पर सवार नज़र नहीं आता जो किसी भी समाजवैज्ञानिक अध्ययन का एक सुखद पक्ष है। बेखटके, बेरोकटोक सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक विडम्बनाओं का पर्दाफ़ाश यहाँ क़दम-क़दम पर हुआ है— ख़ासकर पाँचवें और सातवें अध्यायों में जहाँ इतिहास-दृष्टि एकदम साफ़ उभरकर आती है। इसकी एक बानगी इस प्रकार है :

- समाज और उसकी विभिन्न संस्थाओं में मौजूद लैंगिक अधीनस्थता का लाभ उठाकर भूमण्डलीकरण औरतों के श्रम और देह पर निजी नियंत्रण को सार्वजनिक नियंत्रण में बदल रहा था ...
- भूमण्डलीकरण ने ताक़तवर प्रतीत होने वाली औरतों का एक विशाल शो-केस बनाया है।
- लेडी बॉस के अधीन काम करने वाले पुरुष अधिकारी आमतौर पर विशेष रूप से दमित मानसिकता के शिकार रहते हैं जो मौक़ा पाते ही 'पॉवर वुमन' के ख़िलाफ़ आक्रामक प्रतिक्रिया में फूट पड़ती है।
- पुरुष सांस्कृतिक संकट के शिकार हैं।
- भारत में भूमण्डलीकरण और दक्षिणपंथी परम्परावादियों का उभार साथ-साथ हुआ। भारत की सरकार ऐसे तमाम तत्त्वों और संगठनों को देशभक्त और संस्कृति-रक्षक मानती है जो लड़कियों पर वस्त्र-संहिता लादते हैं और किसी भी तरह की वैकल्पिक जीवन-शैली का हिंसक विरोध करते हैं।
- वेश्या नामक निर्मिति की अंतर्वस्तु अपनी देह है। ... यह कोई छोटी-मोटी ज़िद नहीं... पिछले दो सौ साल से जमे हुए मार्क्सवादी विचार को चुनौती देने वाली ज़िद थी जिसके तहत पूरे समाज को क्रांति का सपना दिखाने वाली ज़मातें वेश्या को सर्वहारा से ज़्यादा बड़ा दर्जा देने को तैयार नहीं है।

इन महीन स्थापनाओं के आलोक में इधर के कुछ स्त्रीवादी, उपन्यासों और स्त्री-आत्मकथाओं का परतदार विश्लेषण 'कल्चरल मैटेरियलिस्ट' आलोचना के जानदार निकषों द्वारा किया गया है— अध्याय दो में अनामिका के दो उपन्यासों का, अध्याय नौ में भगवानदास मोरवाल के चर्चित उपन्यास का, अध्याय छह और दस में प्रभा खेतान, मन्नू भण्डारी और मैत्रेयी पुष्पा की धारदार आत्मकथाओं का! यहाँ भी इनकी इतिहास-दृष्टि और प्रखर भाषा जिस तरह भाषिक अवचेतन में ही तैर रही पाठ-

गुत्थियाँ (अपोरिया) सुलझाती जाती है— सटीक उदाहरणों के सहारे, उससे यह उम्मीद बँधती है कि स्त्रीवाद के गर्भ से जन्मा नवल-पुरुष एक नया, अधिक संगत, अधिक चेतन विश्व रचने को लगातार तत्पर है! इसका साफ़ मतलब यह कि स्त्रीवाद कहीं तो पहुँचा है। और इससे भी बड़ी बात यह कि समाजशास्त्र जब क़ायदे से और ख़ूबसूरती से साहित्य का इस्तेमाल अपनी स्थापनाएँ रेखांकित करने के लिए करता है, तो उसकी भाषा में वही ठनक, वही रस जग जाता है जो साहित्यिक कृतियों की ख़ास पहचान है! कई उदाहरण जुटाए जा सकते हैं, जहाँ प्रसंग, चरित्र और स्थापनाएँ रूपकीय मणिदीप का गौरव गहती हैं— 'स्त्रियों को किसी-न-किसी रूप में सदा ही अपने अलग कमरे की तलाश रहती है। भाषा के माध्यम से स्त्रियाँ केवल साहित्य नहीं रचतीं, वरन् भाषा द्वारा प्रदत्त कमरे के एकांत में चली जाती हैं। जैसे ही स्त्री भाषा के कमरे में समय बिताना शुरू करती है पाठकों को सम्बोधित करती हुई मुख्यत: वे ख़ुद को ही सम्बोधित करने में तल्लीन हो जाती हैं।'

अर्थग्रहण की समस्या, भाषा का जेण्डरीकरण और आख्यान की तंग होती धारावाहिकता को लगातार तर्क-सम्बलित करते हुए प्राय: सभी पाठों का मन:सामाजिक विश्लेषण यथेष्ट धैर्य से किया गया है। हर विश्लेषण एक नयी खिड़की-सी खोलता है पाठ पर और साथ ही साथ उसकी देशकाल सापेक्ष समीक्षा भी करता चलता है :

> भारतीय समाज की सेक्सुअल घड़ी अब धीमी रफ़्तार से टिक-टिक करने की बजाय कुछ तेज़ी से भाग रही है ... आज नारीवाद उस मुक़ाम तक पहुँच चुका है जब वह विश्वासपूर्वक कह सकता है कि पुरुष द्वारा निर्धारित यौनशुचिता के निर्धारित मानकों पर खरी उतरने वाली', 'नेक लड़कियों' का शास्त्र बनने से ही संतुष्ट नहीं है।

इस आलोक में प्राय: सभी उपन्यास और आत्मकथाएँ पढ़ी गयी हैं और इनमें से अधिकांश की समीक्षा करते हुए कहा गया है :

> इस विमर्श में मातृत्व और भगिनीवाद का बेतहाशा मूल्यवर्द्धन किया जाता है ... स्त्री अनिवार्य रूप से नेक, मधुर, कल्याणकारी, पोषण और पृथ्वी जैसे धारक तत्त्वों से परिपूर्ण हो जाती है। जैविक तात्त्विकवाद के कारण ही इस विमर्श में स्त्री की सेक्शुअलिटी देह के तंतुओं के कथित रूप से भिन्न होने तक सीमित रह जाती है। स्त्री को श्रेष्ठतर क़रार देने के चक्कर में देह-विमर्श भूल जाता है कि जर्मन फ़ासीवादियों और हमारे हिंदुत्ववादी राष्ट्रवादियों ने स्त्री पर ये ही विशेषताएँ आरोपित करने में एक पूरी सदी खपाई है।

इस बिंदु पर हम अभय जी से थोड़ा उलझ सकते हैं : 'स्त्री को श्रेष्ठतर क़रार देने' का प्रश्न ही कहाँ उठता है! पूरा विमर्श ही श्रेष्ठता-ग्रंथि के ख़िलाफ़ हो जहाँ, वहाँ श्रेष्ठता की घुड़दौड़ क्यों आयोजित की जाएगी भला! बोउआ, इरिगेरी, सिक्सू, क्रिस्तेवा आदि के बाद भी जो मनोभाषिक अनुसंधान हुए हैं, उनसे इतना तो स्पष्ट हो ही चला है स्त्री की दैहिक, मानसिक और मानसिक बनावट कुछ तो प्राकृतिक रूप से अलग है (जीन में आक्रामकता बढ़ाने वाले 'वाई' फैक्टर के अभाव के कारण) और कुछ कमाल पालन-पोषण का पितृसत्तात्मक रवैया भी कर गुज़रता है जिसके कारण बेचारे पुरुष एक ख़ास तरह के अभाव-बोध से बचपन में ही ग्रस्त हो जाते हैं। वे एक ख़ास तरह के मानसिक अवरोध का शिकार हो जाते हैं जिसके कारण उनकी भाषिक उच्छलता बाधित हो जाती है!

कब होता है वैसा? ठीक उसी समय जब भाषिक अस्मिता विकसित होने वाली रहती है, बेचारे लड़कों को ज़बर्दस्ती माँ के आँचल से निकाल बाहर किया जाता है कि ख़बरदार, मातृछवि तुम्हारी सबसे प्रिय शै हो तो हो, पर तुम्हें इस छवि से अलग अपनी छवि गढ़नी है— पिता की तरह दिखाना है, वैसा ही आचरण उचित है तुम्हारे लिए, माँ के पीछे घूमोगे तो 'मउगा' (सिसी बेबी) हो जाओगे, क्या हर बात में टेसुए बहाने बैठ जाते हो, चूड़ियाँ पहन रखी हैं क्या; मर्द बच्चे हो, मर्द बनो। इस व्यक्त-अव्यक्त फटकार के बाद से ही बालक कोमल भावनाएँ अपने चित्त की गहराइयों में ऐसे छुपा

लेता है जैसे चोरी से पी गयी सिगरेट। पितृसत्ता धीरे-धीरे उसके चित्त में बैठा देती है कि क्रोध का सार्वजनिक प्रदर्शन तो उसके लिए सर्वथा उचित है, पर कोमल भावनाओं का प्रसारण सर्वथा अनुचित! लड़कियों को मातृछवि से सहसा वियुक्त करने वाला यह झटका नहीं झेलना पड़ता। इसलिए भाषिक इयत्ता के विकास का उषाकाल उनके लिए सुखद चहचहाटों और सूक्ष्म, मनोहर, कोमल इशारों में सहज, उन्मुक्त संतरण का समय होता है— सूक्ष्मतम अनुभूतियों के ठण्डे झकोरों से लहालोट! यही कारण है कि उनकी अभिव्यक्तियाँ (आम तौर पर) अधिक उत्फुल्ल और निर्बाध होती हैं; और कोमलता दिखाते हुए उन्हें कोई अपराध बोध नहीं होता।

इस विश्लेषण का आधार प्रमेय नैंसी शोदरोव के शोधपत्रों से लिया गया है, और मैंने इसे ख़ुद अपने परिवेश में परखा भी है। मेरी समझ इस विषय में यह है कि भौतिक संसाधनों और अवसरों पर पुरुषों का, और प्रेम, करुणा, वात्सल्य, धैर्य, क्षमा, सहिष्णुता आदि सद्‌गुणों पर स्त्रियों का ही एकाधिकार नहीं रहना चाहिए। ऐसा न हो कि लज्जा स्त्रियों का ही गहना बनी रहे। भौतिक संसाधनों की तरह सद्‌गुण-कोष की उपर्युक्त मुहरें भी स्त्री-पुरुष में बराबर-बराबर बँटें। ऐसा नहीं है कि पुरुष पत्थर नहीं हैं, और उन पर घास उगाई ही नहीं जा सकती। घास उगाने की सम्भावना है, तभी तो विमर्श हैं। बजने को तो भैंस के आगे भी बीन बज ही जाती है, पर कम-से-कम विमर्श आदमी की आदमियत में आस्था नहीं छोड़ते। आशा है विकास की, बुद्धत्व के बीजों के अंकुरण की, तभी तो संवाद की यह पहल है।

दरअसल 'अनिवार्य रूप से नेक, मधुर, कल्याणकारी, पोषक और पृथ्वी जैसे धारक तत्त्वों से परिपूर्ण' पुरुष भी हैं— ऐसा मानता है स्त्रीवाद, पर उनके ये गुण कुण्डलिनी में अभी सोये पड़े हैं। एक बीन है जो भैंस के आगे बज-बज कर थक जाती है, तो दूसरी बीन वह भी है जो कुण्डलिनी में सोये नाग को नचा देती है और गला देती है उसके विषदंत, उन्नयन सम्भव कर देती है उसका सहस्रार के दहराकाश में जहाँ 'गगन में गैब निसान उड़े'।

स्त्रीवाद की यह सदिच्छा ही है कि सभी शिक्षादीप्त ध्रुवस्वामिनियों को उनके टक्कर के चंद्रगुप्त मिल जाएँ और रामगुप्तों में भी अंकुर फूटें सद्‌गुण के! यदि 'इच्छा' जैसी कोमल चीज़ के साथ भी 'सद्' न जुड़ा तो इच्छा भला किस काम की। जर्मन फ़ासीवादियों और हिंदुत्ववादी राष्ट्रवादियों या किसी भी तरह के अतिरेक से पीड़ित पुरुषों के लिए तो सद्‌गुणों का बराबर वितरण और भी ज़रूरी है। तात्त्विकतावाद का आरोप तो स्त्रीवाद पर तब लगता जब वह पुरुष-जाति से यह उम्मीद ही छोड़ देता कि उसके लिए 'नेक', मधुर, कल्याणकारी, पोषक और पृथ्वी
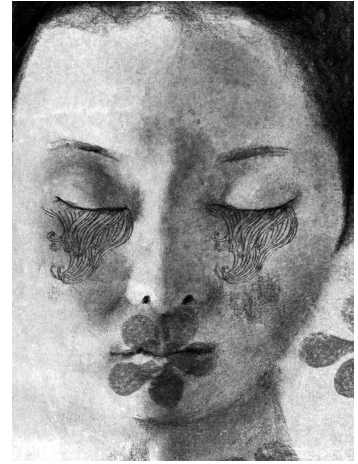
समाजशास्त्र जब क़ायदे से और ख़ूबसूरती से साहित्य का इस्तेमाल अपनी स्थापनाएँ रेखांकित करने के लिए करता है, तो उसकी भाषा में वही ठनक, वही रस जग जाता है जो साहित्यिक कृतियों की ख़ास पहचान है! कई उदाहरण जुटाए जा सकते हैं, जहाँ प्रसंग, चरित्र और स्थापनाएँ रूपकीय मणिदीप का गौरव गहती हैं— 'स्त्रियों को किसी-न-किसी रूप में सदा ही अपने अलग कमरे की तलाश रहती है। भाषा के माध्यम से स्त्रियाँ केवल साहित्य नहीं रचतीं, वरन् भाषा द्वारा प्रदत्त कमरे के एकांत में चली जाती हैं। जैसे ही स्त्री भाषा के कमरे में समय बिताना शुरू करती है पाठकों को सम्बोधित करती हुई मुख्यत: वे ख़ुद को ही सम्बोधित करने में तल्लीन हो जाती हैं।'

जैसे धारक तत्त्वों से परिपूर्ण' होना सम्भव ही नहीं है। वाई फैक्टर जो आक्रामकता पैदा करता है, वह भी सही पालन-पोषण से ठीक हो सकता है। आदर्श स्थिति तो यह है कि हमें सम्यक् और स्थितप्रज्ञ पुरुष चाहिए, और संवेदित स्त्रियाँ— न अतिपुरुष, न अतिस्त्री, न मैचोमैन, न बार्बी डॉल।

वैसे, अभय यह सब समझते भी हैं, पर कभी-कभी आदमी स्वयं से भी लड़ लेता है। विवाद कर लेता है ताकि समझ और साफ़ बने। उनके व्यापक अध्ययन और हमदर्द समझदारी के कई प्रमाण उनकी साहित्य चर्चा में मिलेंगे जहाँ स्त्री-कवियों के सटीक उद्धरणों से उन्होंने स्त्री आत्मकथाकारों का मर्म खोला है (कात्यायनी की कविता से मन्नू भण्डारी की *एक कहानी यह भी* का) और कई ऐसे व्यापक गवाक्ष स्त्री-साहित्य और स्त्री-विषयक साहित्य (जैसे भगवान दास मोरवाल के उपन्यास *रेत*) की चर्चा के क्रम में उन्होंने खोले हैं। यहाँ उन्होंने कथन-भंगिमा भी अनूठी रखी है—

> 'मैत्रेयी के लिए साहित्य के संसार में जगह-जगह विस्फोटक सुरंगें लगी हुई हैं। उनकी साहित्यिक गतिविधियाँ उनसे पल-पल विरोध और अतिक्रमण माँगती हैं।'
>
> 'प्रेम और प्रजनन से रहित पारिश्रमिक की अपेक्षा में किये गये सेक्सवर्क' का त्रास खोलने वाले उपन्यास 'रेत' के केंद्र में स्त्री की सेक्सुअलिटी और राजनीति की सेक्सुअल 'सम्भावना' है।

इस तरह की प्रखर, सूत्रबद्ध किंतु सहज बातचीत की अनौपचारिक भाषा में समाजशास्त्रीय विमर्श की यह छोटी सी शुरुआत हिंदी में बनने वाली विमर्शी दुनिया का एक प्रमाण है।